SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

अश्वघोष कृत सौन्दरनन्दम् महाकाव्य का अंगी रस

सिद्धार्थ शंकर सिंह, पी.–एचडी., प्राचार्य
महाकवि कालिदास सूर्यदेव महाविद्यालय, त्रिमुहान, चंदौना, जिला– दरभंगा, बिहार, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Author
सिद्धार्थ शंकर सिंह, पी.–एचडी.
E-mail : sidharthpcvm@gmail.com

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 12/06/2025
Revised on : 13/08/2025
Accepted on : 22/08/2025
Overall Similarity : 00% on 14/08/2025

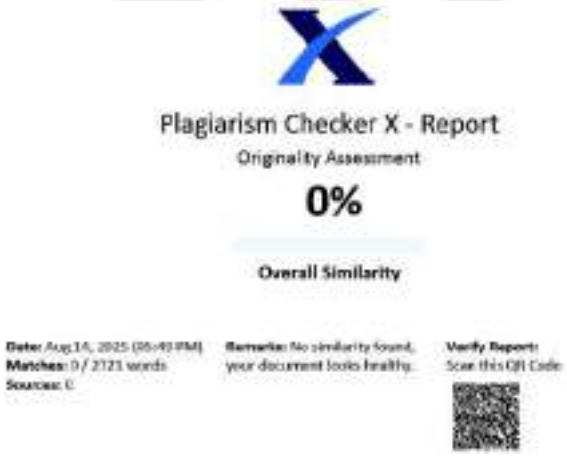

शोध सार

सौन्दरानन्दकाव्यम्, अश्वघोष के द्वारा रचित संस्कृत काव्य ग्रन्थ है। यह बुद्ध के सौतेले भाई आनन्द के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के घटनाक्रम पर आधृत है। अश्वघोष द्वारा विरचित सौन्दरनन्द संस्कृत महाकाव्य नन्द और सुन्दरी के प्रेम का वर्णन श्रृंगार रस की उद्दाम अवस्था को निरूपित करते हुए किया गया है, इन सबके साथ ही नन्द के सांसारिक सुखों को त्याग कर बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए बौद्ध धर्म में प्रवृत्त होने का वर्णन भी शांत रस के अंतर्गत निरूपित किया गया है। इस तरह, यह महाकाव्य श्रृंगार और शांत रसों का सुंदर मिश्रण है, जिसमें श्रृंगार रस कथा के प्रारंभिक भाग में है और शांत रस कथा के अंतिम भाग में विद्यमान है। मूलतः इस महाकाव्य में श्रृंगार और शांत रस मूल रस के रूप में स्वीकार किया गया है लेकिन जब अंततः वास्तविक अंगिरा की बात होगी तो वहां इस महाकाव्य का मुख्य अंगी शांत रस ही है। अश्वघोष ने इस महाकाव्य में लगभग सभी रसों का विवेचन किया है, लेकिन शोध की दृष्टि से हमने केवल श्रृंगार और शांत रस को ही लक्ष्य किया है और इन्हीं रसों को समस्त अंगों के साथ उदाहरण सहित प्रस्तुत किया है।

मुख्य शब्द

श्रृंगार, रस, भाव, विभाव, धातु, साहित्य.

प्रस्तावना

रस शब्द का अर्थ व्यापक है। धातु पाठ में कहा गया है श्रस आस्वादेश्।

अर्थात् रस का अर्थ है स्वाद लेना। इसी प्रकार स्वाद का अर्थ है "स्वादो रस ग्रहणे।" स्वाद का अर्थ है रस का ग्रहण करना। लौकिक रस मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त और लवण का ग्रहण जिह्वा के द्वारा किया

जाता है। इसी प्रकार काव्य विषयक श्रृंगारादि रसों का आस्वाद रत्यादि स्थायी भावों के रस रूप में अभिव्यक्त होने पर सहृदयों के द्वारा मन से किया जाता है। इस प्रकार काव्यादि में रस की निष्पत्ति होती है। रस निष्पत्ति के विषय में आचार्य भरत मुनि अपने नाट्यशास्त्र में एक सूत्रवाक्य के द्वारा इस प्रकार कहते हैंः

''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः'' ।[1] अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इन तीनों भावों के कारण स्थाई भाव जागृत होता है जिसकी परिणति रस के रूप में होती है।

अतः रस को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव के संयोग से जागृत स्थाई भाव रस या रस दशा कहलाता है। रस की अवस्था स्थाई भाव की ही जागृत, उद्बुध, पुष्ट, परिपक्व अथवा सचेतावस्था है। प्रसिद्ध रसवादी आचार्य विश्वनाथ के अनुसार ष्विभाव अनुभाव तथा संचारी भावों द्वारा व्यक्त हुए सचेत इत्यादि स्थाई भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।ष् रस की यह अवस्था आनन्द की अवस्था है। इस स्थिति में हृदय अपने व्यक्तित्व को क्षण भर के लिए भूल जाता है और केवल आनन्द की अनुभूति करता है। यह सहृदय की आनन्दानुभूति में पूर्ण तन्मयता की अवस्था है। अपने और पराए की व्यक्तिगत अनुभूति से उठकर रसदशा में सहृदय समष्टिगत अनुभूत्यात्मक धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाता है। यह तो है भाव की अवस्था, किन्तु यह भाव चरमोत्कर्ष का घरातल है जहाँ विशुद्ध आनन्द की अनुभूति ही शेष रह जाती है। यही कारण है कि सामान्य जीवन की सुख–दुःख–मोहात्मक भावदशा से पृथकता दर्शाते हुए हमारे मनीषियों ने रस दशा को श्आलौकिकश् तथा श्ब्रह्मानन्द सहोदरश् आदि विशेषणों से अलंकृत किया है।

"रसो वै सः"[2] कहकर भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने ब्रह्मा के रसरूप होने की उद्घोषणा की। परमात्मा आनन्द स्वरूप है। सुखदुःखमोहात्मक जगत् में किसी भी प्रकार के दृश्यावलोकन, काव्य या साहित्य के पठन, श्रवण से भाव विभोर होकर पाठक एवं श्रोता के मन में जो एक विशेष प्रकार की अनिर्वचनीयता, अदृश्य अमूर्त–अनुभूति की भावना जो स्वतः प्रकाशित होती है, उसी का नाम रस है। रस अनुभूति के क्षणों में व्यक्ति की मनोदशा और चेहरे के हाव के प्रकार की स्वाभाविकता आ जाती है। उस स्थिति में मुख से अनायास अरे ! हाय! आह! ओह! जैसे शब्द निकलते हैं जो रस के स्वरूप का परिचय कराते हैं।

रस के सम्बन्ध में भरत मुनि का सिद्धान्त सर्वप्रथम मान्य हुआ तथा अलंकारवादी, रीतिवादी, वक्रोक्तिवादी आचार्यों ने भी किसी न किसी रूप में उसकी चर्चा अवश्य की है। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में रस का विवेचन किया है। वामन ने उसे कान्ति गुण का मूल तत्त्व माना है "दीप्ति रसत्व कान्तिः।"[3] रुद्रट ने भी रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने रस को ध्वनि का प्रधान अंग माना है। अभिनवगुप्त ने रस की विशेष व्याख्या की है। मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ ने भी रस की प्राण सत्ता को स्वीकार किया है। भामह से लेकर उद्भट तक रसत्व को अलंकार मानने वाले आचार्यों ने भी परोक्ष रूप से, रस ही अलंकार का मूल तत्त्व है, ऐसा संकेत किया है। सामान्यतः रस शब्द का प्रयोग पदार्थ का रस मधुर, कटु अम्ल, तिक्त, कषाय, लवण आदि के लिए हुआ है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद का रस, साहित्य का रस, भक्ति का रस, मोक्ष आदि के लिए भी हुआ है। वैयाकरणों ने रस रस शब्द की व्युत्पति अनेक प्रकार से की है। यथा

1. "रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।"[4]
   अर्थात् जिन पदार्थों का अस्वादन किया जाता है, वे रस हैं।
2. "रस्यते अनेन इति रसः।"[5]
   अर्थात् जिन पदार्थों के द्वारा आस्वादन किया जाता है, उनको रस कहते हैं।
3. "रसति रसयति वा रसः।"[6]
   अर्थात् जो व्याप्त हो जाता है या जो व्याप्त कर लेता है, उसको रस कहते हैं।
4. "रसनं रसः आस्वादः।"[7]
   अर्थात् जो आस्वाद है, उसको रस कहते हैं।

उपर्युक्त व्युत्पत्तियों में से प्रथम और अन्तिम व्युत्पति काव्य–रस के निकट जान पड़ती है, क्योंकि काव्य के रस का आस्वादन किया जाता है। अर्थात् काव्य–रस आस्वाद्य रूप होता है।

साहित्यिक रस के बारे में कुछ प्रमुख आचार्यों के विचार द्रष्ट्व्य हैं। यथा नानाभावोपगत स्थायी भाव ही रस है अर्थात् रस एक प्रकार की भावमूलक स्थिति है, जो कवि निबद्ध विभावादि के सम्बन्ध में नाट्य सामग्री द्वारा रंगमंच पर उपस्थित हो जाती है। यह भावमूलक स्थिति ही भरत मुनि के अनुसार रस है। भरत का यह मत उनके प्रख्यात लक्षण ''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिरू'' में अभिव्यक्त हुआ है, जो रस का विषयगत रूप तथा मौलिक एवं सौन्दर्यवादी आचार्यों की कल्पना के निकट है।

भरतमुनि का मत भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य भरत का मत है कि, अभिनवगुप्त का मत भरत के परवर्ती आचार्यों के विवेचन के फलस्वरूप रस का स्वरूप क्रमशः विषयीगत होता गया और वह आस्वाद बन गया। इस अर्थ परिवर्तन का सर्वाधिक दायित्व अभिनवगुप्त पर है। उन्होंने रस को इस प्रकार से विश्लेषित किया हैः

1. लोक में रत्यादि स्थायी भावों के कारण ''द्योतक'' और ''पोषक'' होते हैं। वे काव्य, नाटकादि में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि नाम से अभिहित किये जाते हैं।
2. सहृदय द्वारा इन अलौकिक विभावादि के समवेत रूप का मनसा साक्षात्कार ही रस है।
3. यह रस आस्वाद रूप ही होता है आस्वाद का विषय नहीं।
4. रस अनिवार्यतः आत्मविश्रान्तिमयी आनंद चेतना है।

शोध भूमि

अश्वघोष ऐसे रचनाकार हैं जो अन्यमनस्क श्रोताओं को आकृष्ट करने के लिए अपने काव्य को सरस बनाया है। उनका मुख्य लक्ष्य तो मोक्ष–धर्म की व्याख्या करना और बुद्ध के उपदेश को जन–जन तक पहुंचाना है। जिस प्रकार औषधि को पीने लायक बनाने के लिए उसमें मधु मिलाया जाता है उसी प्रकार सौन्दरनन्दम् में कवि ने विशेष कारणों से ही श्रृंगारादि रसों का प्रयोग किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अश्वघोष ने रस को साध्य न मानकर साधन माना है फिर भी रस की मधुरता का हृदयग्राही रूप दिखाई देता है।

श्रंगारः कवि का श्रृंगार वर्णन अद्भुत है। साहित्य में श्रृंगार को रस–राज सम्भोग एवं विप्रलम्भ। अश्वघोष ने कहा जाता है। श्रृंगार के दो पक्ष हैं सौन्दरनन्दम् में श्रृंगार के उभय रूप का रसास्वादन पाठकों को कराया है।

अश्वघोष दार्शनिक कवि होते हुए भी श्रृंगार के सफल परिचेता हैं। श्रृंगारिक चित्रों में भावात्मकता के साथ कोमल प्रभावोत्पादकता है। इस कारण अश्वघोष का श्रृंगार निश्चय ही हृदयस्पर्शी है। अश्वघोष की श्रृंगारिक कविता मर्यादा की सीमा में है। ऐन्द्रिकता और विलासप्रियता के लिए कोई स्थान नहीं है। शुद्ध और हृदयावर्जक श्रृंगारिक वर्णन में सौन्दर्य की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। वासना और मांसलता के लिए अश्वघोष की कविता में कोई स्थान नहीं। शाश्वत आनन्द की भावना का कोमलता से प्रकटीकरण हुआ है। क्षणिक उद्दीपक अश्लील मादकता और वासना न समाज के लिए उपयोगी और न ही कवि के लिए। अतएव कवि का श्रृंगार कोमलता और प्रेम की आर्द्रता से पूर्ण है।

कोमलता और प्रेमार्द्रतापूर्ण है। यथा सुन्दरी और नन्द के सम्भोग श्रृंगार के कुछ स्थल द्रष्ट्व्य हैंः

''चिक्षेष कर्णोत्पलमस्य चांसे करेण सव्येन मदालसेन।
पत्राङ्गुलिं चार्धनिमीलिताक्षे वक्त्रेऽस्यतामेव विनिर्दुधाव।।
ततश्चचलन्नूपुरयोक्तिताभ्यां नखप्रभोद्मासितराङ्गुलिभ्याम्।
पद्भ्यां प्रियाया नलिनोपमाभ्यां मूभियान्नाम ननाम नन्दः।।
स मुक्तपुष्पोन्मिषितेन मूर्ध्वा ततः प्रियायाः प्रियकृद्धमासे।
सुवर्णवेद्यामनिलावभग्नः पुष्पातिभारादिव नागवृक्षः।।
सा तं स्तनोद्वर्तितहारयष्टिरूत्थापयामास निपीड्य दोर्थ्याम्।
कथं कृतोऽसीति जहास चोच्चौर्मुखेन साचीकृतकुण्डलेन।।

पत्युस्ततो दर्पणसक्तपाणेर्मुहुर्मुहुर्वक्त्रमवेक्षमाणा।
तमालपत्रार्द्रतले कपोले समापयामास विशेषकं तत्।।
तस्या मुखं तत्सतमालपत्रं ताम्राधरौष्ठ चिकुरायताक्षम्।
रक्ताधिकाग्रं पतितद्विरेफं सशैवलं पद्ममिवावभासे।।
नन्दस्ततो दर्पणमादरेण विभ्रत्तदामण्डनसाक्षिभूतम्।
विशेषकावेक्षणकेकराक्षो लडत्प्रियाया वदनं ददर्श।।
तत्कुण्डलादष्टविशेषकान्तं कारण्डवक्लिष्टमिवारविन्दम्।
नन्दः प्रियाया मुखमीक्षमाणो भूयः प्रियानन्दकरो बभूव।।"[8] 21

संयोग के बाद वियोग प्रकृति का नियम है। संयोग की परिपुष्टि के लिए वियोग का होना अनिवार्य है। विरह की अग्नि में दग्ध हृदय मिलन की उत्कट आकांक्षा से व्याप्त होता है। विरह में ही प्रेम प्रकर्ष को प्राप्त करता है। प्रबल विरहासक्ति में ही प्रेम पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। विरह में प्रेम प्रगाढ़ होता है। निश्चय ही महाकवियों की वाणी श्रृंगार के इस पक्ष अर्थात् विप्रलम्भ के वर्णन में निपुण होते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में विप्रलम्भ श्रृंगार युक्त पद्यों की रचना में भी अश्वघोष की रसात्मक और भावात्मक प्रतिभा प्रतिस्फुरित हुई है।

सौन्दरनन्दम् के भार्याविलाप नामक षष्ठ सर्ग में अश्वघोष ने विप्रलम्भ श्रृंगार की तरंगित भावनाओं का मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है। सुन्दरी की वियोगदशा ध्यातव्य हैः

"तस्या मुखं पद्मसपत्नभूतं पाणौ स्थितं पल्लवरागताम्र।
छायामयस्याम्भसि पङ्कजस्य बभौ नतं पद्ममिवोपरिष्टात्।।"[9] 22
''सा रोदनारोषितरक्तदृष्टिः सन्तापसङ्क्षोभितगात्रयष्टिः।
पपात शीर्णाकुलहारयष्टिः फलातिभारादिव चूतयष्टिः।।''[10] 23
संचिन्त्य संचिन्त्य गुणांश्च भर्तु र्दीर्घं निश्श्वास ततास चौव।
विभूषणश्रीनिहिते प्रकोष्ठे ताम्रे कराग्रे च विनिर्दुधाव।।"[11] 24
"रुरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ।
चकार रोषं विचकार माल्यं चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रम्।।"[12] 25

अश्वघोष ने विप्रलम्भ श्रृंगार के वर्णन में अपनी कविता के साथ न्याय किया है। मात्र नायिका विषय ही नहीं अपितु नायक विषयक विप्रलम्भ के चित्रण में भी अश्वघोष की लेखिनी ने काव्य मर्यादा का सम्यक् निर्वहण किया है। सौन्दरनन्दम् के नायक नन्द के विरह वर्णन में भी विप्रलम्भ श्रृंगार से सहृदय पाठक रसविभोर हो जाता है। महाकाव्य के श्नन्द–विलापश् नामक सप्तम सर्ग में बार–बार विप्रलम्भश्रृंगार की अभिव्यक्ति हुई है। यथा "निरीक्षमाणस्य जलं सपद्मंवनं च फुल्लं परपुष्टजुष्टम् कस्यास्ति धैर्य नवयौवनस्य मासे मधौ धर्मसपत्नभूते।"[13] 26

"स पीतकक्षोदमिव प्रतीच्छन् चूतद्रुमेभ्यस्तनुपुष्पवर्षे। दीर्घं निशश्वास विचिन्त्य भार्या नवग्रहो नाग इवावरुद्धः।।"[14]

"प्रियां प्रियायाः प्रतनुं प्रियङ्गु निशाम्य भीतामिव निष्पतन्तीं। सस्मार तामश्रुमुखीं सवाष्पः प्रियां प्रियङ्गुप्रसवावदाताम्।। पुष्पावनद्धे तिलकद्रुमस्य दृष्ट्वान्यपुष्टां शिखरे निविष्टाम्। संकल्पयामास शिखां प्रियायाः शुक्लांशुकेऽट्टालमपाश्रितायाः।। लतां प्रफुल्लामतिमुक्तकस्य चूतस्य पार्श्व परिरम्य जाताम्। निशाम्य चिन्तामगमत्तदैवं श्लिष्टा भवेन्मामपि सुन्दरीति।।"[15]

"अहं गृहीत्वापि हि भिक्षुलिङ्ग भ्रातृषिणा द्विर्गरुणानुशिष्टः। सर्वास्ववस्थासु लभे न शान्तिं प्रियावियोगादिव चक्रवाकः।।"[16]

अपनी प्रियतमा सुन्दरी के वियोग में नन्द की दशा चकवी से बिछुड़े चकवे के समान हो गई है। प्रकृति के उद्दीपक प्रभाव ने नन्द की भावनाओं को व्यग्र कर दिया है।

"संरक्तकण्ठेश्च विनीलकण्ठैस्तुष्टैः प्रहृष्टैरपि चान्यपुष्टैः। लेलिह्यमानैश्च मधु द्विरेफैः स्वनद्धनं तस्य मनो नुनोद।"[17]

वह प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं में अपनी प्रियतमा की छवि देखता है। स्मृति दशा के उपर्युक्त भावमय प्रस्तुति में कवि ने निश्चय ही विप्रलम्भ की फुहार से पाठकों को भिंगोया है।

अश्वघोष ने अपने महाकाव्य में साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रस श्रृंगार रस के दोनों पक्षों का सम्भोग श्रृंगार और

विप्रलम्भ श्रृंगार दोनों की अनुभूति कराने में समर्थ सिद्ध हुए हैं। कवि का रस परिपाक मर्यादानुकूल है, जो सहृदय पाठकों को अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराता है।

नन्द के चित्त मल को दूर करने के लिए उसे लेकर आकाश में उड़ जाते हैं –''नन्दं विदित्वा सुगतस्ततस्तं भार्याभिधाने तमसि भ्रमन्तम्। पाणौ गृहीत्वा वियदुत्पपात मलं जले साधुरिवोज्जिहीर्षुः।।"[18]

"काषायवस्त्रौ कनकावदातौ विरेजतुस्तौ नभसि प्रसन्ने। अन्योन्यसंश्लिष्टविकीर्णपक्षौ सरःप्रकीर्णाविव चक्रवाकौ।।'[19] का संचार होता है। कवि अश्वघोष जब यह वर्णन करता है कि कैसे तथागत बुद्ध इसी प्रकार अन्यत्र भी इस महाकाव्य में यत्र–तत्र अद्‌भुत रस का संचार होता है।

शान्त रसः अश्वघोष के सौन्दरनन्दम् में अंगी रस अर्थात् मुख्य रस शान्त है। जिस प्रकार काव्य में श्रृंगार रस की उपादेयता है उसी प्रकार आध्यात्मिक सुखानुभूति के लिए शान्त रस की अपेक्षा काव्याचार्यों को स्वीकार है। शान्त रस की नवें रस के रूप में मान्यता स्वीकार की गई है। इस रस का स्थायीभाव शम या निर्वेद होता है। इस रस की अनुभूति में संसार निस्सार प्रतीत होता है। वैराग्य और संयम की पराकाष्ठा होती है। अभिनवगुप्त ने तो शान्तरस को ही एकमात्र मूलरस स्वीकार किया है। अभिनवभारती में वह लिखते हैंः

''स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते। पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।।'[20]

अश्वघोष शान्त के सिद्धहस्त हैं। इस रस का स्थायी भाव निर्वेद या शम होता है। इस स्थायी भाव से युक्त शान्त रस का कवि प्रयोग द्रष्टव्य हैः "आस्थाय योगं परिगम्य तत्त्वं न त्रासमागच्छति मृत्युकाले। आबद्धवर्मा सुधनुः कृतास्त्रो जिगीषया शूर इवाहवस्थः।।"[21]

शान्त रस का प्रस्फुटन वस्तुतः तब होती है जब शब्दों को सुनते ही सुख–दुःख–मोहात्मक संसार के प्रति विराग की भावना का उन्मेष होने लगे। वैराग्य की भावना में ही शान्त रस की धारा प्रवाहित होती है। कवि अश्वघोष तो इसी धारा को अजस्र प्रवाहित करना चाहते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यह पद्य द्रष्ट्व्य है जहाँ शान्त की स्रोतस्विनी स्रावित हो रही है – "प्रविशन्त्यपि हि स्त्रियश्चिताम् अनुबध्नन्त्यपि मुक्तजीविताः।
अपि विभ्रति चौव यन्त्रणा न तु भावेन वहन्ति सौहृदम्।"[22]

"न कामभोगा हि भवन्ति तृप्तये हवीषि दीप्तस्य विभावसोरिव। यथा यथा कामसुखेषु वर्तते तथा तथेच्छा विषयेषु वर्धते।।"[23]

"स्मृतेः प्रमोषो वपुषः पराभवो रतेः क्षयो वाच्छ्र तिचक्षुषां ग्रहः।
श्रमस्य योनिर्बलवीर्ययोर्वधो जरासमो नास्ति शरीरिणां रिपुः।।"[24]

अश्वघोष सांसारिक सौन्दर्य की वस्तु को कालुष्यपूर्ण बताते हुए जो कहते हैं वहाँ निर्वेद भाव का जागृत होना स्वाभाविक हैः ''मलपङ्घरा दिगम्बरा प्रकृतिस्थैर्नखदन्तरोमभिः। यदि सा तव सुन्दरी भवेन्नियतं तेऽद्य न सुन्दरी भवेत्।।"[25]

सौन्दरनन्दम् महाकाव्य के प्रायः पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्द्ध के सर्गों में अश्वघोष ने न्यूनाधिक इस शान्त रस की अनुभूति सहृदयों को कराने में सफल हुए हैं। बौद्ध दर्शन एवं उपदेश में तो इसकी पराकाष्ठा है जिसके कारण यह ग्रन्थ का अंगी रस बन सका है। स्त्री–विघ्न, अभिमान की निन्दा, स्वर्ग–दर्शन, स्वर्ग की निन्दा, विवेक, शील और इन्द्रिय–संयम, आदि प्रस्थान, वितर्क–प्रहाण, आर्य सत्यों की व्याख्या, अमृत की प्राप्ति और आज्ञा–व्याकरण के प्रसंगों में सर्वाधिक पद्य शान्त रस से ओत शान्त रस से समन्वित कुछ अन्य पद्य द्रष्टव्य हैं जहाँ अश्वघोष की शास्त्रीय कुशलता परिलक्षित होती है

''स्रवतीमशुचिं स्पृशेच्च कः सघृणो जर्जरभाण्डवत्स्त्रियम्। यदि केवलया त्वचावृता न भवेन्मक्षिकपत्रमात्रया।।"[26]

"यथा हि नृभ्यां करपत्रमीरितं समुच्छ्रितं दारु भिन्नत्त्यनेकधा। तथोच्छ्रितां पातयति प्रजामिमामहर्निशाभ्यामुपसंहिता जरा।।"[27]

''पांसुभ्यः काञ्चनं जातं विशुद्धं निर्मलं शुचि। स्थितं पांसुष्वपि यथा पांसुदोषैर्न लिप्यते।। पद्मपर्णे यथा चौव

जले जातं जले स्थितम्। उपरिष्टादधस्ताद्वा न जलेनोपलिप्यते।। तद्वल्लोके मुनिर्जातो लेकस्यानुग्रहं चरन्। कृतित्वान्निर्मलत्वाच्च लोकधर्मैर्न लिप्यते।।"[28]

"चिकित्सार्थे यथा धत्ते व्रणस्यानेपनं व्रणी। क्षुद्विघातार्थमाहारस्तद्वत्सेव्यो मुमुक्षुणा।

एवमभ्यवहर्तव्यं भोजनं प्रतिसंख्यया। न भूषार्थे न वपुष न मदाय न दृप्तये।"[29]

निष्कर्ष

इस प्रकार कहा जा सकता है कि महाकवि अश्वघोष ने सौन्दरनन्दम् महाकाव्य में जहाँ शान्त रस की सुखद धारा प्रवाहित की है वहीं श्रृंगार, हास्य, करूण, वीर और अदभुत रसों का भी सुन्दर प्रयोग किया है। इन रसों के प्रयोग ने महाकाव्य को जीवन्त बना दिया है। कवि का मूल उद्देश्य बौद्ध धर्म का प्रचार–प्रसार करना है इसलिए अपने महाकाव्य में वैसे ही घटनाक्रम को प्रमुखता से स्थान दिया है जो उनकी उपदेशात्मक शैली में रसात्मकता के साथ निमग्न हो सके। इस दृष्टि से साहित्य के रौद्र, भयानक और वीभत्स इन तीन अन्य रसों के प्रति न तो उनका झुकाव दिखाई देता है और न कथा वस्तु में इसकी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। अतएव स्थायी भाव क्रोध से उत्पन्न रस रौद्र, स्थायी भाव भय से उत्पन्न भयानक रस और जुगुप्सा स्थायीभाव से युक्त बीभत्स रस सौन्दरनन्दम् में कहीं दिखाई नहीं देता। निश्चय ही कहा जा सकता है कि कवि अश्वघोष का रस प्रयोग साहित्य की मर्यादा और कथावस्तु की आवश्यकता के अनुरूप है।

संदर्भ सूची

1. नाट्यशास्त्र–भरतमुनि, व्यख्याकार बाबूलाल शुक्ल शास्त्री (2024) चौखम्भा संस्कृति संस्थान, वाराणसी, अध्याय 6, पृ. 218।
2. तैत्तरीय–उपनिषद् वल्ली 2, अनुवाक 7, मन्त्र 2।
3. काव्यलंकार सूत्रध् वामन।
4. नाट्यशास्त्र–भरतमुनि, व्यख्याकार बाबूलाल शुक्ल शास्त्री (2024) चौखम्भा संस्कृति संस्थान, वाराणसी, अध्याय 6, पृ. 218।
5. तत्रैव।
6. तत्रैव।
7. तत्रैव।
8. अश्वघोष कृत सौन्दरनन्दम् 4/16/23।
9. तत्रैव 6/11।
10. तत्रैव 6/25।
11. तत्रैव 6/27।
12. तत्रैव 6/34।
13. तत्रैव 6/26।
14. तत्रैव 6/4।
15. तत्रैव 6/6–8।
16. तत्रैव 6/17।
17. तत्रैव 6/11।
18. तत्रैव 10/3।
19. तत्रैव 10/4।

20. नगेन्द्र (प्रधान सम्पादक) (1960) *अभिनवभारती–अभिनवगुप्त,* हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।
21. सौन्दरनन्दम् 5/32।
22. तत्रैव 8/42।
23. तत्रैव 9/43।
24. तत्रैव 9/33।
25. तत्रैव 8/51।
26. तत्रैव 8/52।
27. तत्रैव 9/32।
28. तत्रैव 13/4–6।
29. तत्रैव 14/11।

****